

गायत्री मंत्र के **द** अक्षर की व्याख्या

आत्म ज्ञान और आत्म कल्याण

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्



आत्मज्ञान और आत्मकल्याण

गायत्री का तेईसवाँ अक्षर 'द' हमको आत्मज्ञान और आत्म कल्याण का मार्ग दिखलाता है —

दर्शन आत्मनः कृत्वा जानीयादात्म गौरवम् ।

ज्ञात्वा तु तत्तदात्मानं पूर्णोन्नति पथं नयेत् ॥

आत्मा को देखे, आत्मा को जाने, उसके गौरव को पहचाने और आत्मोन्नति के मार्ग पर चले ।

मनुष्य महान पिता का सबसे प्रिय पुत्र है । सृष्टि का मुकुटमणि होने के कारण उसका गौरव और उत्तरदायित्व भी महान है । यह महत्ता उसके दुर्बल शरीर के कारण नहीं, वरन आत्मिक विशेषताओं के कारण है ।

आत्मगौरव की रक्षा करना मनुष्य का परम कर्तव्य है । जिससे आत्म-गौरव घटता हो, आत्मग्लानि होती हो, आत्महनन करना पड़ता हो, ऐसे धन, सुख, भोग और पद को लेने की अपेक्षा भूखा, नंगा रहना ही अच्छा है । जिसके पास आत्मधन है उसी को सच्चा धनी समझना चाहिए । जिसका आत्मगौरव सुरक्षित है, वह ईद्र के समान बड़ा पदवीधारी है, भले ही चाँदी और ताँबे के टुकड़े उसके पास कम मात्रा में ही क्यों न हों ?

अपने को शरीर समझने से मनुष्य मायाग्रस्त होता है और शरीर से संबंध रखने वाली सांसारिक उलझनों से ही उलझकर मनुष्य जीवन जैसे अमूल्य सौभाग्य को गँवा देता है । जब यह अनुभूति होने लगती है कि मैं आत्मा हूँ, शरीर तो मेरा एक अल्पस्थायी वस्त्र मात्र है, वर्तमान जीवन तो एक छोटी कड़ी मात्र है तो वह अपना स्वार्थ उन बातों में देखता है, जिनसे आत्महित साधन हो सकता है ।

आत्मनिर्माण का मार्ग

मनुष्य का अंतःकरण कुछ विश्वासों से आच्छादित रहता है । इन विश्वासों के आधार पर ही जीवनयात्रा संचालित होती रहती है । शरीर की क्रियाएँ मन-

बुद्धि की इच्छानुसार होती है। इस प्रकार शरीर, बुद्धि और मन तीनों की गतिविधि उन विश्वास-बीजों पर अवलंबित होती है।

कुछ विश्वास-बीज तो प्राणी पूर्वजन्मों के संस्कार रूप में साथ लाता है, पर अधिकांश का निर्माण इसी जीवन में होता है। माता-पिता के, कुटुंबियों के, पड़ोसियों के व्यवहार का बहुत सा भाग बालक ग्रहण करता है। सामने घटित होने वाली घटनाओं का प्रभाव, वातावरण और परिस्थितियों का प्रभाव बच्चे पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। बड़े होने पर पुस्तकों से, मित्रों से, प्रवचनों से तथा अपनी तर्कशक्ति से वह कुछ निष्कर्ष निकालता है। इन निष्कर्षों के विरोध में कोई जबरदस्त तर्क या कारण सामने न आवे तो वे विश्वास-बीज की तरह मनोभूमि में गड़ जाते हैं और वहीं अपनी जड़ें गहराई तक जमा लेते हैं। इन बीजों के जो पौधे उगते हैं उन्हें हम विचार या कार्य के रूप में प्रकट होता हुआ देखते हैं।

मनुष्य अहंकारप्रधान प्राणी है। उसे 'अहम्' सबसे अधिक प्रिय है। जिस वस्तु के साथ वह अहम् को जोड़ लेता है, वे वस्तुएँ भी उसे प्रिय लगने लगती हैं। स्त्री, पुत्र, धन, वैभव, यश अपने हों तो प्रिय लगते हैं, पर यदि वे ही दूसरे के हों तो उनमें कुछ रुचि नहीं होती। कभी-कभी तो उलटे, ईर्ष्या, जलन, डाह तक होता है। अपने दोष सुनने का धैर्य बड़े-बड़े धैर्यवानों को नहीं होता है और अपनी प्रशंसा सुनने के लिए बड़े-बड़े त्यागी अधीर हो जाते हैं। यही अहंभाव अपने विश्वास-बीजों के साथ संयुक्त हो जाता है तो वह अपने धन या स्त्री, पुत्रों के समान प्रिय लगने लगते हैं। जैसे अपनी वस्तुओं की निंदा या क्षति होते देखकर क्रोध उमड़ता है और निंदा या क्षति करने वाले से संघर्ष करने को उमड़ पड़ते हैं, वैसे ही अपने विश्वास-बीजों के प्रतिकूल किसी विचार या कार्य को सामने आया देखकर मनुष्य अपनी सहिष्णुता खो बैठता है और विरोधी के प्रति आग-बबूला हो जाता है।

यह विश्वास-बीज दो काम करते हैं— (१) मन और शरीर को एक दिशा में कार्य करने को प्रेरित करते हैं। (२) अपने से प्रतिकूल विश्वास-बीज वालों के प्रति घृणा, विरोध या संघर्ष उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनका मानव जीवन में बड़ा महत्त्व है। इनके थोड़े हेर-फेर के कारण जीवन का रूप स्वर्ग से नरक में और नरक से स्वर्ग में परिणत हो जाता है।

आज झूठ बोलने, मनोभावों को छिपाने और पेट में कुछ रखकर मुँह से कुछ कहने की प्रथा खूब प्रचलित है। कई व्यक्ति मुख से धर्मचर्चा करते हैं, पर उनके पेट में पाप और स्वार्थ बरतता है। यह पेट में बरतने वाली स्थिति ही मुख्य है। उसी के अनुसार जीवन की गति संचालित होती है। एक मनुष्य के मन में विश्वास जमा होता है कि 'पैसे की अधिकता ही जीवन की सफलता है।' वह धन जमा करने के लिए दिन-रात जुटा रहता है। जिसके हृदय में यह धारणा है कि 'इंद्रिय भोगों का सुख ही प्रधान है' वह भोगों के लिए बाप-दादों की जायदाद फूँक देता है। जिसका विश्वास है कि 'ईश्वरप्राप्ति सर्वोत्तम लाभ है,' वह और भोगों को तिलांजलि देकर संत का सा जीवन बिताता है। जिसे देशभक्ति की उत्कृष्टता पर विश्वास है, वह अपने प्राणों की भी बलि देश के लिए देते हुए प्रसन्नता अनुभव करता है। जिसके हृदय में जो विश्वास जमा बैठा है, वह उसी के अनुसार सोचता है, कल्पना करता है और इस कार्य के लिए जो कठिनाइयाँ आ पड़ें उन्हें भी सहन करता है। दिखावटी बातों से, बकवास से, बाह्य विचारों से नहीं, वरन भीतरी विश्वास-बीजों से जीवित दिशा का निर्माण होता है।

सामाजिक रीति-रिवाज, जाति-पाँति, छूत-छात, विवाह-शादी, खान-पान, मजहब, संप्रदाय, ईश्वर, धर्म, लोक-परलोक, भूत-प्रेत, देवी-देवता, तीर्थ, शास्त्र, राजनीति, चिकित्सा, आचार, विचार, मनोरंजन एवं अपने तथा दूसरों की आत्मस्थिति के संबंध में कुछ विश्वास जमे होते हैं। उनके आधार पर ही शरीर और मस्तिष्क के कलपुर्जे काम करते हैं। एक मनुष्य की इच्छा, आकांक्षाएँ, विचारधारा एवं कार्य प्रणाली दूसरे से भिन्न होती है। इसका कारण उनके विश्वास-बीजों की भिन्नता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शास्त्रों में आत्मा को निर्लिप्त, शुद्ध, पवित्र कहा है, पर यह विश्वास-बीज ही उसे एकदूसरे से पृथक, संकीर्ण एवं भला-बुरा बना देते हैं।

सांप्रदायिक, जातिगत, दलगत, प्रांतीय, रीति-रिवाजों एवं विचारधाराओं के संपर्क के कारण मनुष्य उन्हें ग्रहण कर लेता है। आमतौर से मनुष्य का स्वभाव नकल करने का है। तर्क और विवेक का वह कभी-कभी और कहीं-कहीं ही प्रयोग करता है। कारण यह है कि तर्क करने और दूरदर्शिता-पूर्वक बारीकी से विचार करने में मस्तिष्क को विशेष भारी बोझ उठाना पड़ता है। जैसे भारी शारीरिक श्रम करने से सब लोग जी चुराते हैं, वैसे ही तीक्ष्ण वेधक

दृष्टि से सत्य के तथ्य तक पहुँचने का भारी मानसिक श्रम करने का लोगों को साहस नहीं होता। बहुतों में तो इस प्रकार की योग्यता भी नहीं होती, जिनमें होती है वे अपने परमप्रिय विषय को छोड़कर अन्य विषयों में गंभीर दृष्टि डालने का प्रयत्न नहीं करते। इस प्रकार से आमतौर से देखा-देखी नकल करने की परंपरा चल पड़ती है। यही परंपराएँ कालांतर में विश्वास-बीज बन जाती हैं।

अपनी बात को ही प्रधान मानने और ठीक मानने का अर्थ और सबकी बातें झूठा मानना है। इस प्रकार का अहंकार अज्ञान का द्योतक है। इस असहिष्णुता से घृणा और विरोध बढ़ता है, सत्य की प्राप्ति नहीं होती। सत्य की प्राप्ति होना तभी संभव है, जब हम अपनी भूलों, त्रुटियों और कमियों को निष्पक्ष भाव से देखें। अपने विश्वास-बीजों का हमें निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए। जो हमारे शक्तिकेंद्र हैं, जिनकी प्रेरणा से हमारी जीवन दिशा संचालित होती है, उन विश्वास-बीजों का हमें निष्पक्ष भाव से, कठोर समालोचक की तरह भली प्रकार अपनी अंतःभूमि में निरीक्षण करना चाहिए। जैसे चतुर किसान अपने खेत में उगे हुए झाड़-झंखाड़ों को अपना नहीं समझता, न उनसे अपने मन का मोह करता है, वरन उन्हें निष्ठुरतापूर्वक उखाड़कर फेंक देता है, उसी प्रकार हमें अपने संस्कारों को उखाड़-उखाड़कर फेंक देना चाहिए। अब तक हम यह मानते रहे हैं, इसे बदलने में हमारी हेठी होगी, ऐसी झिझक व्यर्थ है। आत्मनिर्माण के लिए, सत्य की प्राप्ति के लिए, हमें अपना पुनर्निर्माण करना होगा। जैसे सिर के बाल घोटमघोट कराके ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रवेश करता है, वैसे ही अपनी समस्त पूर्व मान्यताओं को हटाकर नए सिरे से उचित, उपयोगी एवं सच्ची मान्यताओं को हृदयभूमि में प्रतिष्ठित करना चाहिए। तभी इस आत्मनिर्माण के महा मंदिर में पदार्पण कर सकते हैं। पक्षपाती और भ्रांत धारणाओं के दुराग्रही के लिए सत्य दर्शन असंभव है।

आत्मोन्नति के लिए आवश्यक गुण

यदि आप जल्दी आध्यात्मिक उन्नति चाहते हैं तो इसके लिए सजगता, होशियारी रखना बहुत जरूरी है। आध्यात्मिक मार्ग में थोड़ी सी सफलता, थोड़ी सी मन की गंभीरता, एकाग्रता, सिद्धियों के थोड़े से दर्शन, थोड़े से अंतःज्ञान की शक्ति से ही कभी संतुष्ट मत रहो, इससे ज्यादा ऊँची चढ़ाइयों पर चलना अभी बाकी है।

अपने जीवन को सेवामय बना दो, सेवा के लिए अपने हृदय में चाव तथा उत्साह भर लो। दूसरों के लिए प्रसाद बनकर रहो यदि ऐसा करना चाहते हो तो आपको अपने मन को निर्मल बनाना होगा। अपने आचरण को दिव्य तथा आदर्श बनाना होगा। सहानुभूति, प्रेम, उदारता, सहनशीलता और नम्रता बढ़ानी होगी। यदि दूसरों के विचार आपके विचारों से मुक्त हों तो उनसे लड़ाई-झगड़ा न करो। अनेक प्रकार के मन होते हैं। विचारने की शैली अनेक प्रकार की हुआ करती है। विचारने के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हुआ करते हैं। अतएव सभी दृष्टिकोण निर्दोष हो सकते हैं। लोगों के मत के अनुकूल बनो। उनके मत को भी ध्यान तथा सहानुभूतिपूर्वक देखो और उनका आदर करो। अपने अहंकार चक्र के क्षुद्र केंद्र से बाहर निकलो और अपनी दृष्टि को विस्तृत करो। अपना मन सर्वग्राही और उदार बनाकर सबके मत के लिए स्थान रखो, तभी आपका जीवन विस्तृत और हृदय उदार होगा। आपको धीरे-धीरे मधुर और नम्र होकर बातचीत करनी चाहिए। मितभाषी बनो। अवांछनीय विचारों और संवेदनाओं को निकाल दो। अभिमान या चिड़चिड़ेपन को लेशमात्र भी बाकी नहीं रहने दो। अपने आप को बिलकुल भुला दो। अपने व्यक्तित्व का एक भी अंश या भाव न रहने पावे। सेवा-कार्य के लिए पूर्ण आत्मसमर्पण की आवश्यकता है। यदि आप में उपर्युक्त सद्गुण मौजूद हैं तो आप संसार के लिए पथप्रदर्शक और अमूल्य प्रसाद रूप हो। आप एक अलौकिक सुगंधित पुष्प हो जिसकी सुगंध देश-भर में व्याप्त हो जाएगी। यदि आपने ऐसा कर लिया तो समझ लो अपने बुद्धत्व की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लिया।

नम्र, दयालु, उपकारी और सहायक बनो। यही नहीं कि कभी-कभी यथावकाश—इन गुणों का उपयोग किया जावे, बल्कि सर्वकाल में आपके सारे जीवन में इन्हीं गुणों का अभ्यास होना चाहिए। एक भी शब्द ऐसा मत कहो जिससे दूसरों को दुःख पहुँचे। बोलने से पहले भली प्रकार विचार करो और देख लो कि जो कुछ आप कहने लगे हो, वह दूसरों के चित्त को दुखी तो नहीं करेगा, क्या वह बुद्धिसंगत, मधुर, सत्य तथा प्रिय तो है। पहले से ही ध्यानपूर्वक समझ लो कि आपके विचार शब्दों और कार्यों का क्या प्रभाव होगा? प्रारंभ में आप भले ही कई बार असफल हो सकते हैं, परंतु यदि आप अभ्यास करते रहे तो अंत में आप अवश्य सफल हो जाओगे।

आपको कोई काम निरुत्साह से, लापरवाही से या बेमन से नहीं करना चाहिए। यदि मन की ऐसी वृत्ति रखोगे तो जल्दी उन्नति नहीं कर सकते। संपूर्ण चित्त, मन, बुद्धि, आत्मा उस काम में लगा होना चाहिए, तभी आप उसे योग या ईश्वरपन कह सकते हो। कुछ मनुष्य हाथों से तो काम करते हैं और उनका मन कलकत्ता (कोलकाता) के बाजार में होता है, बुद्धि दफ्तर में होती है और आत्मा स्त्री या पुत्र में संलग्न रहती है। यह बुरी आदत है। आपको कोई भी काम हो, उसे योग्यता से, संतोषप्रद ढंग से करना चाहिए। आपका आदर्श यह होना चाहिए कि एक समय में एक ही काम अच्छे ढंग से किया जाय। यदि आपके गुरु या मित्र आपसे तौलिया धोने को कहें तो आपके बिना उन्हें बताए हुए ही उनके और कपड़ों को भी धो डालना चाहिए।

लगातार असफल होने से आपको साहस नहीं छोड़ना चाहिए। असफलता के द्वारा आपको अनुभव मिलता है। आपको ये कारण मालूम होंगे, जिनसे असफलता हुई है और भविष्य में उनसे बचने के लिए सचेत रहोगे। आपको बड़ी-बड़ी होशियारी से उन कारणों की रक्षा करनी होगी। इन्हीं असफलताओं की कमजोरी में से आपको शक्ति मिलेगी। असफल होते हुए भी आपको अपने सिद्धांत, लक्ष्य, निश्चय और साधन का दृढ़ मति होकर पालन और अनुसरण करना होगा। आप कहिए, 'कुछ भी हो मैं अवश्य पूरी सफलता प्राप्त करूँगा, मैं इसी जीवन में नहीं इसी क्षण आत्मसाक्षात्कार करूँगा। कोई असफलता मेरे मार्ग में रुकावट नहीं डाल सकती।' प्रयत्न और कोशिश आपकी ओर से होनी चाहिए। भूखे मनुष्य को अपने आप ही खाना पड़ेगा। प्यासे को पानी अपने आप ही पीना पड़ेगा। आध्यात्मिक सीढ़ी पर आपको हर एक कदम अपने आप ही रखना पड़ेगा।

आत्मज्ञानी को सुशील, मनोहर, मिलनसार प्रकृति का होना होगा। उसकी पूर्णरूप से अनुकूलता, सहानुभूति करने वाला, विश्व-प्रेम, दया के गुणों से युक्त रहना होगा। उसको दूसरों की चाल तथा आदतों के अनुकूल ही अपने को बनाना होगा। उसको अपने हृदय को ऐसा बनाना होगा कि सबों को अपने गले लगा सकें। उसे अपने मन को शांत तथा समतुल्य रखना होगा। दूसरों को सुखी देखकर उसको प्रसन्न होना होगा। अपनी सब इंद्रियों को अपने वश में करना होगा। उन्हें अनादर, अपकीर्ति, निंदा, कलंक, लज्जित होना, कठोर वचन सुनना, शीत, उष्ण तथा रोगों के कष्टों को सहना होगा।

उन्हें सहनशील होना होगा। उनको आप में, ईश्वर में, शास्त्रों में, अपने गुरु के वचन में पूरा विश्वास रखना होगा।

जो मनुष्य संसार की सेवा करता है, वह अपनी ही सेवा करता है। जो दूसरों की मदद करता है, वास्तव में वह अपनी मदद करता है। यह सदा ध्यान में रखने योग्य बात है कि जब आप दूसरे व्यक्ति की सेवा करते हैं, जब आप अपने देश की सेवा करते हैं, तब आप यह समझकर कि ईश्वर ने आपको सेवा द्वारा अपने को उन्नत तथा सुधारने का दुर्लभ अवसर दिया है, उस मनुष्य के प्रति कृतज्ञ हों जिसने आपको सेवा करने का अवसर दिया हो।

निष्काम सेवा करने से आप अपने हृदय को पवित्र बना लेते हैं। अहंभाव, घृणा, ईर्ष्या, श्रेष्ठता का भाव और इसी प्रकार के और सब आसुरी संपत्ति के गुण नष्ट हो जाते हैं। नम्रता, शुद्ध, प्रेम, सहानुभूति क्षमा, दया आदि की वृद्धि होती है। भेदभाव मिट जाते हैं। स्वार्थपरता निर्मूल हो जाती है। आपका जीवन विस्तृत तथा उदार हो जाएगा। आप एकता का अनुभव करने लगेंगे। आप अत्यधिक आनंद का अनुभव करने लगेंगे। अंत में आपको आत्मज्ञान प्राप्त हो जाएगा। आप सबमें "एक" और "एक" ही सबका अनुभव करने लगेंगे। संसार कुछ भी नहीं है केवल ईश्वर की ही विभूति है। लोकसेवा ही ईश्वर की सेवा है। सेवा को ही पूजा कहते हैं।

जब दूसरों की भलाई करने का भाव मनुष्य का एक अंग ही बन जाता है, तब रंचमात्र भी किसी प्रकार की कामना नहीं रह जाया करती है। उनको दूसरों की सेवा तथा भलाई करने से ही अत्यंत आनंद का अनुभव हुआ करता है। दृढ़ निष्काम सेवा करने से एक विचित्र प्रकार की प्रसन्नता तथा आनंद हुआ करता है। उनको निष्काम तथा निःस्वार्थ कर्म करने से आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति और बल होता है।

आध्यात्मिक मार्ग में सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है ?

मानव जीवन का सदुपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है —
(१) आत्मनिर्माण द्वारा (२) राष्ट्रनिर्माण द्वारा। इसमें प्रथम साधन अर्थात् आत्मनिर्माण पर विचार करें तो विदित है कि आत्मनिर्माण निम्न साधनों से संभव है—

(१) शरीर रक्षा से

(२) भावनाओं पर विजय प्राप्त करने से

(३) बुद्धि विकास से

(४) आत्मज्ञान से।

आत्मनिर्माण का प्रथम साधन मानव का शरीर है। शरीर वह यंत्र है जिसकी सहायता से मानव संसार में कर्मपथ पर अग्रसर होता है, नाना कर्तव्यों का पालन करता है तथा संसार, समाज, देश और विश्व की प्रगति समझता है। संसार कैसा है? उसमें कितनी प्रगति हो रही है? किस दिशा में हो रही है? कितनी अच्छाई या बुराई है, यह मानव के शरीर पर अवलंबित है। जिस प्रकार सावन के अंधे को सर्वत्र हरा-ही-हरा दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार रोगी शरीर वाले को संपूर्ण संसार रोग से आक्रांत, डूबता हुआ, नष्ट होकर काल-कवलित होता हुआ प्रतीत होता है। अस्वास्थ्यकर स्थानों, निंद्य, पेशा करते हुए व्यक्तियों को संसार में भोग-विलास, शृंगार उत्तेजक पदार्थ, इत्यादि के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। जिसने अपने शरीर को मद्य, तंबाकू, चरस, अफीम इत्यादि उत्तेजक पदार्थों पर पाला है। यह व्यक्ति पशुत्व की श्रेणी में पड़ा-पड़ा नारकीय कीट-पतंगों का जीवन व्यतीत करता है। अस्वस्थ रोगी मनुष्य के विचार भी अस्वस्थ्यकर, अनिष्ट ही होते हैं। यह संसार को अहंकार की संकीर्णता में बँधा हुआ देखता है। रोगी शरीर क्या तो अपना भला कर सकता है और क्या दूसरों का कल्याण कर सकता है। उसके विचारवासी, योजनाएँ रोगी, कल्पनाएँ दूषित, वासनाएँ प्रदीप्त, इच्छाएँ अनिष्टकर ही रहेंगी।

आत्मनिर्माण के इच्छुको! नीरोग और स्वस्थ शरीर बनाओ, जिससे तुम स्वयं अनिष्टकर चिंतन से बच सको तथा अहितकर कल्पनाओं से बचकर अपना जीवन दिव्य प्रबंध से सुव्यवस्थित कर सको। तुम्हें वही ग्रहण करना चाहिए जो शुभ हो। स्वस्थ पवित्र जीवन, सात्त्विक वस्तुओं के भोजन पर निर्भर है। तुम जो भोजन करते हो, उसी के अनुसार तुम्हारी भावनाओं का निर्माण होता है। सात्त्विक वस्तुओं—गेहूँ, चावल, फल, तरकारियों, दूध, मेवे इत्यादि पर बना हुआ स्वस्थ मनुष्य आत्मनिर्माण सरलता से कर सकता है। उसकी भावनाएँ तामसी वस्तुओं की ओर आकृष्ट न होंगी। वह दूसरों के प्रति कभी घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध की भावनाएँ नहीं ले जाएगा। इसके विपरीत मांस, मादक द्रव्य, तामसी उत्तेजक पदार्थों, मद्य इत्यादि के बल पर स्वस्थ शरीर अंदर से खोखला रहेगा। वह उस रेत की दीवार की भाँति है जो धक्के से धराशायी हो सकती है। नींद, परिश्रम, श्वास-प्रश्वास के व्यायाम, दूध छाछ, फलों के

रस—ये सभी तत्त्व शरीर की रक्षा के लिए अमूल्य हैं। उपवास द्वारा रोग से मुक्ति तथा अंतरंग शुद्धि करते रहना अनिवार्य है।

आत्मनिर्माण की दूसरी साधना है—भावनाओं पर विजय। गंदी वासनाएँ दग्ध की जाएँ तथा दैवी संपदाओं का विकास किया जाय तो उत्तरोत्तर आत्मविकास हो सकता है। कुत्सित भावनाओं में क्रोध, घृणा, द्वेष, लोभ और अभिमान, निर्दयता, निराशा अनिष्ट भाव प्रमुख हैं, धीरे-धीरे इनका मूलोच्छेदन कर देना चाहिए। इनसे मुक्ति पाने का एक यह भी उपाय है कि इनके विपरीत गुणों, धैर्य, उत्साह, प्रेम, उदारता, दानशीलता, उपकार, नम्रता, न्याय, सत्य वचन, दिव्य भावों का विकास किया जाय। ज्यों-ज्यों दैवी गुण विकसित होंगे दुर्गुण स्वयं दग्ध होते जाएँगे, दुर्गुणों से मुक्ति पाने का यही एक मार्ग है। आप प्रेम का द्वार खोल दीजिए, प्राणिमात्र को अपना समझिए, समस्त कीट-पतंग, पशु-पक्षियों को अपना समझा कीजिए। संसार से प्रेम कीजिए। आपके शत्रु स्वयं दब जाएँगे, मित्रता की अभिवृद्धि होगी। इसी प्रकार धैर्य, उदारता, उपकार इत्यादि गुणों का विकास प्रारंभ कीजिए। इन गुणों की ज्योति से आपके शरीर में कोई कुत्सित भावना शेष न रह जाएगी।

अनिष्ट भाव से स्वयं दूसरे की ही हानि नहीं होती है। उसकी हानिकारक तरंगें विश्व में व्याप्त होकर वातावरण को दूषित करती हैं, जिससे महायुद्ध होते हैं, जिनमें असंख्य व्यक्तियों का संहार होता है।

आत्मनिर्माण का तृतीय साधन है—'बुद्धि विकास।' इससे सत्कर्म तथा दुष्कर्म का विवेक जाग्रत होता है। शुभ क्या है? अशुभ किसे कहते हैं? इत्यादि ज्ञान मनुष्य की बुद्धि के विकास द्वारा ही प्राप्त होता है, बुद्धि-विकास के चार प्रमुख साधन हैं—सत्संग, अध्ययन, विचार और भूल।

सत्संग से कुटुंब और समाज का कल्याण होता है। जिन अध्यात्मवादियों, ऋषि-महात्माओं, विद्वानों या विचारकों ने संसार में आध्यात्मिक उन्नति की है, उनके संपर्क में आने से मनुष्य को संसार की विषमताओं से बचने के अनेक साधन प्राप्त होते हैं, अपनी समस्याओं का हल निकलता है, आगे आने वाली कठिनाइयों से मुक्ति के साधन एकत्र करने में सहायता प्राप्त होती है।

अध्ययन से मनुष्य महापुरुषों का सत्संग प्राप्त करता है। पुस्तक का अर्थ है—किसी विद्वान का सर्वदा सोते-जागते पुस्तक के पृष्ठों के रूप में आपके समक्ष रहना। पुस्तकों से ऐसे महापुरुषों से संपर्क हो सकता है, जो संसार में

नहीं है, किंतु मानव जगत में अपनी छाप छोड़ गए हैं। नैतिक, मानसिक, आध्यत्मिक विकास के हेतु उत्तमोत्तम धार्मिक ग्रंथों का नियमित स्वाध्याय अतीव आवश्यक है। घर में उत्तम ग्रंथों का संकलन रखने से घर का वातावरण शुद्ध होता है। शुभ विचार की लहरें सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं।

सद्विचार से रमण करने में बुद्धि-विकास का क्रम उचित दिशा में होता है। सद्विचार मन में शिव भावना, सत्यभावना और दिव्य-भावना जाग्रत रखता है। स्मरण रखिए—“जहाँ आप हैं, वहाँ परमात्मा है, जहाँ परमात्मा है, वहाँ आप हैं।” आपका जीवन और व्यवहार दिव्य प्रबंध से सुव्यवस्थित है। परमात्मा आपसे प्रेम करता है और सदैव आपका सहायक है। आप कभी दुखी, शांत या निराश नहीं हो सकते क्योंकि आपका संचालक परमात्मा है। संसार के सब प्राणी आपके आत्मबंधु हैं, आपका शरीर परमात्मा का निवास स्थान है। इस प्रकार की दिव्य भावनाओं में अपना जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति सफलता से आत्मनिर्माण कर सकता है।

भूल से बुद्धि-विकास होता है। एक भूल का अर्थ है—आगे के लिए अक्लमंदी। संसार के अनेक पशु भूल से विवेक सीखते हैं लेकिन मनुष्य उनसे बहुत जल्दी सीखता है। भूल का अर्थ है कि भविष्य में आप अपनी गलती नहीं दोहराएँगे। भूल से अनुभव बढ़ता है। संसार में व्यक्ति के अनुभव का ही महत्त्व है। अनुभव अनेक भूलों द्वारा अर्जित सद्ज्ञान है। भूल यदि दोहराई न जाय तो बुद्धि-विकास में बहुत सहायता करती है। महापुरुषों के जीवन में अनेक क्षण ऐसे आए हैं, जब वे भूलों के बल पर महान बने हैं।

आत्मनिर्माण का अंतिम साधन है—आत्मभाव का विस्तार। साधक की दृष्टि से विकास का सबसे उच्च स्तर यही है। इस स्तर पर पहुँचने से साधक सर्वत्र आत्मभाव का दर्शन करता है। प्रत्येक व्यक्ति, वस्तु तथा जगत को वह ब्रह्म रूप देखता है। अपने शरीर को वह परमात्मा का गृह समझता है। वह जिस वस्तु को देखता है, वे सब उसकी आत्मा के अंग-प्रत्यंग हैं। उसकी आत्मा का दायरा सुव्यवस्थित होता है, जिसमें शत्रु-मित्र सभी सम्मिलित होते हैं। जो व्यक्ति अपने-पराये के भेदभाव पर विशेष ध्यान देते हैं, वे आत्मनिर्माण में शीघ्र अग्रसर नहीं हो सकते। हमारे शास्त्रकारों ने आत्मवत् सर्वभूतेषु का जो सिद्धांत बतलाया है, उसका वास्तविक तात्पर्य यही है कि मनुष्य सभी को आत्मस्वरूप में देखे और भिन्नत्व की भावना को यथाशक्ति कम से कम घटा दे।

आत्मकल्याण और सदुपदेश

आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न तो मनुष्य को स्वयं ही करना पड़ता है, पर सत्संग और सदुपदेश उसके प्रधान अवलंबन हैं। हमारे कानों को सदुपदेश रूपी सुधा निरंतर प्राप्त होती रहनी चाहिए। मनुष्य का स्वभाव चंचल है, इंद्रियों की अस्थिरता प्रसिद्ध है। यदि आत्मसुधार में सभी इंद्रियों को वश में रखा जाय तो उचित है, क्योंकि अवसर पाते ही इनकी प्रवृत्ति पतन की ओर होने लगती है। सदुपदेश वह अंकुश है, जो मनुष्य को कर्तव्य-पथ पर निरंतर चलते रहने को प्रेरित करता रहता है। सत्पथ से विचलित होते ही कोई शुभ विचार या स्वर्ण सूत्र पुनः ठीक मार्ग पर ले आता है।

प्रत्येक सदुपदेश एक ठोस प्रेरक विचार है। जैसे कोयले के छोटे से कण में विध्वंसकारी विपुल शक्ति भरी हुई है, उसी प्रकार प्रत्येक सदुपदेश शक्ति का एक जीता जागता ज्योतिपिंड है। उससे आपको नया प्रकाश और नवीन प्रेरणा प्राप्त होती है। महापुरुषों की अमृतमयी वाणी, कबीर, रहीम, गुरुनानक, तुलसी, मीराबाई, सूरदास आदि महापुरुषों के प्रवचन, दोहों और गीतों में ये महान जीवन सिद्धांत कूट-कूटकर भरे हुए हैं, जिनका आधार गहरे अनुभव के ऊपर रखा गया है। आज ये अमर तत्त्ववेत्ता हमारे मध्य नहीं हैं, उनका पार्थिव शरीर विलुप्त हो चुका है। पर अपने सदुपदेश के रूप में वे जीवन का वह सार छोड़ गए हैं, जो हमारे पथ प्रदर्शन में बड़ा सहायक हो सकता है।

आदमी मर जाता है, उसके साज-सामान, महल, तिबारे टूट-फूटकर नष्ट हो जाते हैं, परंतु उसके जीवन का सार उपदेश और शिक्षाएँ, वह अमर वस्तु हैं, जो युगों तक जीवित रहती हैं। इस पृथिवी पर आज तक न जाने कितने व्यक्ति आए और मृत्यु को प्राप्त हुए, उनका नामोनिशान तक शेष नहीं बचा है, किंतु जिन विचारकों, तत्त्ववेत्ताओं और महापुरुषों ने अपने जीवन के अनुभव रखे हैं, वे आज भी मशाल की तरह हमें प्रकाश दे रहे हैं।

मनुष्य का अनुभव धीमी गति से बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, वैसे-वैसे कड़ुवे-मीठे घूँट पीकर हम आगे बढ़ते हैं। अब यदि हम केवल अपने ही अनुभवों पर टिके रहें तो बहुत दिनों में जीवन के सार को पा सकेंगे। इससे अच्छा यही है कि हम विद्वानों के अनुभवों को ध्यानपूर्वक पढ़ें और इन्हें अपने अनुभवों से परखें, तोलें एवं जीवन में ढालें। उन्होंने जिन प्रलोभनों का उल्लेख किया है उनसे बचें, जिन अच्छी आदतों को सराहा है,

उन्हें विकसित करें। सदुपदेशों को ग्रहण करना अपने आप को लाभान्वित करने का एक सरल उपाय है। सत्य के शोधक, उन्नति के जिज्ञासु और कीर्ति के इच्छुक का यह सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह केवल अपने थोड़े से अनुभवों के बल पर न टिककर, मानवता को प्रशस्त और समुन्नत करने वाले विचारकों के अनुभवों से लाभ उठावे। सदुपदेश हमारे लिए प्रकाश के जीते जागते स्तंभ हैं। जैसे समुद्र में जहाजों को उचित मार्ग निर्देश करने के लिए 'प्रकाशस्तंभ' बनाए जाते हैं, विद्वानों के ये उपदेश ऐसे ही प्रकाशस्तंभ हैं। हम यह नहीं कहते कि आप आँख मूँदकर इन्हें ग्रहण करें। आप अपनी बुद्धि और तर्क से खूब काम लीजिए लेकिन उपदेशों में व्यक्त आधार तथा तत्त्व को अवश्य ग्रहण कीजिए। आपको विवेकवान बनने में ये प्रचुरता से सहायता देने वाले हैं। सत्य, प्रेम और न्याय का पथ इनसे स्पष्ट हो जाता है।

आपको कोई दूसरा अच्छी सलाह दे, उसको सुनना आपका कर्तव्य है, परंतु आपके पास अंतरात्मा का निर्देश है, आप अपनी आत्मा की सलाह से काम करते रहिए, कभी धोखा नहीं खाएँगे।

जिन्होंने बहुत उपदेश सुने हैं, वे देवता रूप हैं। कारण, जब मनुष्य की प्रवृत्ति अच्छाई की ओर होती है, तभी वह सदुपदेशों को पसंद करता है, तभी सत्संग में बैठता है, तभी मन में और अपने चारों ओर वैसा शुभ सात्त्विक वातावरण विनिर्मित करता है। किसी विचार के सुनने का तात्पर्य चुपचाप अंतःकरण द्वारा उसमें रस लेना, उसमें रमण करना भी है। जो जैसा सुनता है, कालांतर में वैसा ही बन जाता है। आज आप जिन सदुपदेशों को ध्यानपूर्वक सुनते हो, कल निश्चय ही वैसे बन भी जाओगे। सुनने का तात्पर्य अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को देवत्व की ओर मोड़ना है।

एक विद्वान ने कहा है, "जल जैसी जमीन पर बहता है, उसका गुण वैसा ही बदल जाता है। मनुष्य का स्वभाव भी अच्छे-बुरे विचारों या लोगों की संगति के अनुसार बदल जाता है। इसलिए चतुर मनुष्य बुरे लोगों का साथ करने से डरते हैं, लेकिन मूर्ख व्यक्ति बुरे आदमियों के साथ घुल-मिल जाते हैं और उनके संपर्क से अपने आपको भी दुष्ट बना लेते हैं। मनुष्य की बुद्धि तो मस्तिष्क में रहती है, किंतु कीर्ति उस स्थान पर निर्भर रहती है, जहाँ वह उठता-बैठता है और जिन लोगों या विचारों की सोहबत उसे पसंद है। आत्मा की पवित्रता मनुष्य के कार्यों पर निर्भर है और उसके कार्य संगति पर निर्भर हैं।

बुरे लोगों के साथ रहने वाला अच्छे काम करे यह बहुत कठिन है। धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, किंतु धर्माचरण करने की बुद्धि सत्संग या सदुपदेशों से ही प्राप्त होती है। स्मरण रखिए कुसंग से बढ़कर कोई हानिकर वस्तु नहीं है तथा संगति से बढ़कर कोई लाभ नहीं है।”

जब आप सदुपदेशों की संगति में रहते हैं, तो गुप्त रूप से अच्छाई में बदलते भी रहते हैं, यह सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया स्थूल नेत्रों से दीखती नहीं है, किंतु इसका प्रभाव तीव्र होता रहता है। अंततः मनुष्य उन्हीं के अनुसार बदल जाता है।

गंगाजल से जिस प्रकार शरीर शुद्ध होता है, सदुपदेश से मन, बुद्धि और आत्मा पवित्र होती है। धर्मात्मा मनुष्यों की शिक्षा एक सुदृढ़ लाठी के समान है, जो गिरे हुए पतितों को सहारा देकर ऊँचा उठाती रही है और बुरे अवसरों पर गिरने से बचा लेती है। जो शिक्षित हैं, उनके लिए सैंकड़ों एक-से-एक सुंदर अनुभवपूर्ण ग्रंथ विद्यमान हैं, कवियों, विचारकों, तत्त्वदर्शकों की वाणियाँ हैं, दोहे, भजन, सूक्तियाँ हैं। इनका मनन और आचरण करना चाहिए। जो अशिक्षित हैं, वे लोग भी धर्मात्माओं के सत्संग से इतनी शक्ति प्राप्त कर सकते हैं, जिससे अपने आप को सँभाल सकें और विपत्ति के समय अपने पैरों पर खड़े हो सकें। स्वयं भगवान गीता में कहते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ (४/३८)

“इस संसार में सदृश ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निस्संदेह कोई भी पदार्थ नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से कर्मयोग के द्वारा शुद्धांतःकरण हुआ मनुष्य अपने आप ही आत्मा में पा लेता है।”

ये मानवा हरिकथा श्रवणास्तदोषा।

कृष्णञ्छ्रुत्वा भजे रतचेतनाश्च।

ते वैपुनन्ति च जर्गान्त शरीरसंगात्।

सम्भाषणादपि ततो हरिरेवे पूज्यः ॥

हरि पूजापरा यत्र मद्भान्त नुद्ध बुद्धयः।

तत्रैव सकलं भद्रं यथा निम्ने जलं द्विजः ॥

“जो मानव भगवान की कथा श्रवण करके उससे सदुपदेश ग्रहण कर, अपने समस्त दोष-दुर्गुण दूर कर चुका है और जिनका चित्त भगवान श्रीकृष्ण के

चरणारविंदों की आराधन में अनुरक्त है, वे अपने शरीर के संग अथवा संभाषण से भी संसार को पवित्र करते हैं। अतः सदा श्रीहरि की ही पूजा करनी चाहिए। ब्रह्मन्! जैसे नीची भूमि में इधर-उधर का सारा जल सिमट-सिमटकर एकत्रित हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ भगवत्पूजा परायण शुद्ध चित्त महापुरुष रहते हैं, वहीं संपूर्ण कल्याण का वास होता है।”

आत्मकल्याण के लिए आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता

आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने वाले को आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति अत्यावश्यक है। इसका आशय यह है कि हमको विवेक के प्रकाश में अपने दोषों पर विचार करना और उनको दूर करने का प्रयत्न निरंतर करते रहना चाहिए। इस प्रकार के आत्मनिरीक्षण बिना निर्दोषता की प्राप्ति हो सकना बहुत कठिन है।

अपना निरीक्षण करने पर असत्य का ज्ञान एवं सत्य से एकता और प्राप्त बल तथा योग्यता का सदुपयोग स्वतः होने लगता है। यदि हम असत्य को नहीं देख पाएँ अथवा सत्य से अभिन्न एवं अपने कर्तव्य से परिचित नहीं हुए तो समझना चाहिए कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रंथ की आवश्यकता ही नहीं रहती, कारण कि जिसके प्रकाश में सबका सब कुछ हो रहा है, उसमें अनंत शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते-करते प्राणी उससे अभिन्न हो जाता है, जो वास्तव में सबका सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है। अपना निरीक्षण हमें बल के सदुपयोग और विवेक के आदर की प्रेरणा देता है। बल के सदुपयोग से निर्बलताएँ और विवेक के आदर से अविवेक स्वतः मिट जाता है।

प्रत्येक प्राणी अपने से अधिक बलवानों के किसी भी प्रकार के बल की अपने प्रति सदुपयोग की आशा करता है, किंतु वह स्वयं अपने प्राप्त बल का निर्बलों के प्रति दुरुपयोग करता है तो वह स्वयं अपने प्राप्त विवेक का अनादर नहीं तो और क्या है?

बल का अर्थ है सभी प्रकार के अर्थात्—तनबल, धनबल, विद्याबल और पद अथवा प्रभुता बल इत्यादि। धन के दुरुपयोग से ही समाज में निर्धनता, शिक्षा अर्थात् ज्ञान, विज्ञान और कलाओं के दुरुपयोग से समाज में अविवेक की वृद्धि, तनबल के दुरुपयोग से समाज में हिंसा और चोरी, प्रभुता के दुरुपयोग से विरोधी शासन का जन्म आदि दुर्गुणों की वृद्धि होती है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा स्वभावतः प्रिय है, फिर भी वह स्वयं अहिंसक न रहकर हिंसा में प्रवृत्त होता है, जिससे हृदय बैर भाव से भर जाता है, जो संघर्ष का मूल है। अतः संघर्ष मिटाने के लिए प्रत्येक भाई-बहनों को अपना हृदय बैर भाव से रहित करना होगा। बैर भाव से रहित होने के लिए अहिंसक होना अत्यंत आवश्यक है। अपनी रक्षा की प्रियता का विवेक हमें अहिंसक होने की प्रेरणा देता है, जो अनादि सत्य है। पर आज तो हम वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा हिंसात्मक प्रयोगों से संघर्ष मिटाने की बात सोच रहे हैं, जो सर्वथा असंभव है, कारण कि विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन से संघर्ष उत्पन्न होता है। अतएव जब तक विवेकपूर्वक मन का संघर्ष न मिटेगा, तब तक समाज में होने वाले संघर्ष कभी नहीं मिट सकते, चाहे वे वैज्ञानिक हों या कौटुंबिक अथवा सामाजिक।

प्रत्येक अपराधी अपने प्रति क्षमा की आशा करता है और दूसरों को दंड देने की व्यवस्था चाहता है। यह अपने प्रति जो दूसरों से अहिंसक, निर्भय, उदार, क्षमाशील, त्यागी, सत्यवादी और विनम्रता आदि दिव्य गुणों से पूर्ण व्यवहार की आशा करता है, किंतु स्वयं उसी प्रकार का सद्व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं कर पाता। अपने प्रति मधुरता युक्त सम्मान की आशा करता है, पर दूसरों के प्रति अपमान एवं कटुतापूर्ण असद्व्यवहार करता है तो वास्तव में भूल है। इसका परिणाम यह होता है कि प्राणी अपने प्रति रागी और दूसरों के प्रति दोषी हो जाता है, जो सभी दुःखों का मूल है।

अपने प्रति होने वाले अन्याय को सहन करते हुए यदि अन्यायकर्ता को क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष, प्रेम में बदल जाता है। अपने द्वारा होने वाले अन्याय से स्वयं पीड़ित होकर जब उससे, जिसके प्रति अन्याय हो गया है, क्षमा माँगी जाय और इस प्रकार उससे क्षमा माँगते हुए अपने प्रति न्याय कर स्वयं दंड स्वीकार कर लिया जाय तो राग, त्याग में बदल जाता है।

जब राग और द्वेष त्याग और प्रेम में बदल जाते हैं, तब मुक्ति की प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है अथवा यों कहो कि अभिन्नता और असंगतता स्वतः आ जाती है। यही वास्तविक आनंद है।

अपना निरीक्षण करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जब हम राग से प्रेरित होकर इंद्रियों की ओर गतिशील होते हैं, तब इंद्रियजन्य ज्ञान के आधार पर हमें अनेक प्रकार की विषमताओं का भास होता है और इंद्रियजन्य स्वभाव में

प्रवृत्त होने से हम क्रियाजन्य सुख की आसक्ति तथा परतंत्रता, जड़ता आदि में भी आबद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अंत में हम शक्तिहीनता का अनुभव कर स्वाभाविक विश्राम अर्थात् निवृत्ति को अपनाते हैं, जिसके फलस्वरूप शक्तिहीनता मिटती जाती है और बिना प्रयत्न के आवश्यक शक्ति की उपलब्धि हो जाती है।

यदि शक्तिहीनता, जड़ता, विषमता इत्यादि दुःखों से दुखी होकर हम निवृत्ति द्वारा संचित शक्ति का व्यय न करके विषयों से विमुख होकर अंतर्मुख हो जावें तो भोग-योग में, जड़ता-चेतना में, विषमता-समता में, पराधीनता-स्वाधीनता में और अनेकता-एकता में बदल जाती है। फिर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति एवं अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वतः ही हो जाती है जो मानव की माँग है।

अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति का यथेष्ट स्पष्ट परिचय प्राप्त करना ही वास्तविक आत्मनिरीक्षण है। उसके बिना हम अपने को निर्दोष बना ही नहीं सकते। मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वतः विद्यमान है, पर प्रमादवश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है, जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दुःखद सिद्ध होता है। पराये दोष देखने से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमान में आबद्ध होकर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है। यद्यपि हृदय प्रीति का स्थल है, घृणा का नहीं, पर ऐसा तभी संभव है, जब मानव पराये दोष न देखकर अपने दोष देखने में सतत प्रयत्नशील रहे। अपने तथा पराये दोष देखने में एक बड़ा अंतर यह है कि पराये दोष देखते समय हम दोषों से संबंध जोड़ लेते हैं। जिससे कालांतर में स्वयं दोषी बन जाते हैं, पर अपना दोष देखते ही हम अपने को दोषों से असंग कर लेते हैं, जिससे स्वतः निर्दोषता आ जाती है, जो सभी को प्रिय है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि दोष दर्शन की दृष्टि का उपयोग केवल अपने ही जीवन पर करना है, किसी अन्य पर नहीं।

यद्यपि अनादि सत्य बीज रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान है, पर उसका आदर न करने से प्राणी उस सत्य से विमुख हो गया है और परिवर्तनशील वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों में आबद्ध होकर उसने अपने को दीन-हीन तथा अभिमानी और परतंत्र बना लिया है। इस दुःखद बंधन से छुटकारा पाने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि प्राणी प्राप्त विवेक के प्रकाश में (जो चिर सत्य है)

अपनी दशा का निरीक्षण करे और वस्तु, अवस्था आदि से असंग होकर दुराचार को सदाचार में परिवर्तित करके अपने को निर्विकार बनाए।

यह प्रत्येक मानव का अनुभव है कि दृश्य का संबंध सुख-दुःख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता है। प्रिय-से-प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति से संबंध स्वीकार करने पर भी प्राणी अपने को अलग करना चाहता है, कारण कि सबसे अलग हुए बिना वह चिर शांति तथा शक्ति नहीं प्राप्त कर पाता जो उसे स्वभाव से ही प्रिय है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्राणी प्रिय-से-प्रिय प्रवृत्ति से थककर गहरी नींद के लिए प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु आदि से अलग होना चाहता है। यद्यपि सुषुप्ति में किसी भी प्रकार का वैषम्य तथा दुःख शेष नहीं रहता, तथापि उससे भी प्राणी स्वयं उपराम हो जाता है और किसी ऐसी अवस्था की खोज करता है, जिसमें सुषुप्ति के समान साम्य तथा दुःखरहितता तो हो, किंतु संज्ञाशून्यता न हो। उस स्थिति के उपलब्ध हो जाने पर जब वह उससे भी उत्थान देखता है, तब उत्थान रहित, अलौकिक, अनंत, नित्य, चिन्मय जीवन के लिए व्याकुल होता है अर्थात् निर्विकल्प स्थिति से निर्विकल्प बोध की लालसा करता है, जो सभी अवस्थाओं से अतीत और स्वतः सिद्ध है। इस स्वतः सिद्ध अनंत जीवन की रुचि मानवमात्र में स्वभाव से विद्यमान है। इसके लिए सभी अवस्थाओं से विमुख होना अनिवार्य है। अवस्थाओं से विमुख होते ही इस अवस्थातीत जीवन का अनुभव हो जाता है।

अपना निरीक्षण ही वास्तविक सत्संग, स्वाध्याय और अध्ययन है, कारण कि अपने निरीक्षण के बिना प्राणी किसी ऐसे सत्य, तत्त्व एवं ज्ञान की उपलब्धि ही नहीं कर सकता जो उसमें स्वयं न हो। अतः अपने निरीक्षण द्वारा ही हम वास्तविक सत्य तथा तत्त्व एवं ज्ञान को उपलब्ध कर सकते हैं।

अपना निरीक्षण करते ही जिस विवेक से असत्य का दर्शन होता है, वही विवेक उसे सत्य से अभिन्न भी कर सकता है और उसी के द्वारा सत्य से अभिन्न और असत्य से निवृत्त होने का उपाय प्राप्त होता है। आत्मनिरीक्षण के बिना कोई भी सद्ग्रंथ तथा सद्गुरु से मिला प्रकाश अपने काम नहीं आता। वह केवल मस्तिष्क का संग्रह बन जाता है जो कि नक्शे की नदी के तुल्य है, प्रत्येक नक्शा हमें वास्तविकता तक पहुँचने का साधन अवश्य है परंतु उसे देखकर संतोष करने से न तो एक बूँद जल मिलेगा न प्यास बुझेगी।

अपने निरीक्षण के साथ-साथ ही हमें सद्ग्रंथ तथा सत्पुरुषों के प्रकाश का उपयोग करना चाहिए। आत्मनिरीक्षण द्वारा जब हम अपनी सभी प्रियताओं को जान लेते हैं, तब फिर हमारे द्वारा कोई ऐसी चेष्टा नहीं होती, जिसमें दूसरे की प्रियता तथा हित निहित हो।

अपना निरीक्षण करने पर हमें यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि प्राप्त शक्ति का सद्व्यय प्राणियों को स्वभाव से ही प्रिय है, कारण कि जब कोई हमारे साथ व्यवहार करता है, यदि उसमें किसी प्रकार का दोष हो तो तब हम उसके उस व्यवहार को उचित नहीं मानते, यद्यपि वही व्यवहार प्रमादवश हम स्वयं दूसरों के प्रति कर बैठते हैं।

आत्मज्ञान और योग

यद्यपि योग एक बड़ा गूढ़ और कठिन विषय माना जाता है। पर जैसा गीता में कहा गया है, आत्मज्ञान प्राप्त करने के सभी साधन 'योग' से संबंध रखते हैं और इस दृष्टि से प्रत्येक सच्चा आत्मज्ञानी 'योगी' ही कहा जायगा। इसलिए आत्मज्ञान के इच्छुक को योग मार्ग का परिचय होना आवश्यक है और उसमें से अपने अनुकूल विधियों से लाभ भी उठाना उचित है।

मानवी चेतना सापेक्ष चेतना है। इसकी सापेक्षता को विनष्ट कर देना ही सारे योगों का एकमात्र लक्ष्य है। जब मन की उपाधि का तिरोधान हो जाता है, तभी चेतना अपनी परमावस्था को प्राप्त करती है। जहाँ किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहता, वरन अस्तित्व का ही 'अस्ति तत्त्व' रहता है, जहाँ किसी वस्तु विशेष के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता, वरन परम अस्तित्व का ही परमज्ञान होता है और जहाँ विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान का आनंद नहीं होता वरन परम अस्तित्व के पारमार्थिक ज्ञान का परमानंद प्राप्त होता है। यही सच्चिदानंद स्वरूप का साक्षात्कार है, यही ब्रह्म अथवा सनातन सत्य है, यही मुक्ति अथवा मोक्ष है, इसके ज्ञान से ही मनुष्य परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कर सकता है।

तमेय विदित्वाति मृत्युमेति

नान्या पन्था विद्यतेऽयनाय । (श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३-८)

“उसको जान लेने से ही मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण करता है। अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है।” इस पारमार्थिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए मुमुक्षु मनुष्य नाना मार्गों को ग्रहण करते हैं। हर एक मार्ग को योग कहकर पुकारते हैं, योग वह प्रक्रिया है, जिससे जीव अपने अविद्याजनित उपाधियों से विमुक्त होकर

अपने सच्चिदानंद स्वरूप का ज्ञान पा सके। ब्रह्म से तादात्म्य संबंध स्थापित करना ही योग है, चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग है। प्रेम-स्वरूप परमात्मा की, अवस्थिति का कण-कण में भान करना योग है, निमित्त रूप से सहजावस्था में संस्थित होकर अखिल विश्व के कल्याणार्थ ब्रह्मकर्म में संलग्न रहना योग है तथा साथ ही वे सारी प्रक्रियाएँ एवं साधनाएँ भी योग हैं, जो इस लक्ष्य की ओर (यथार्थ लक्ष्य तो एक ही परंतु उसे विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर विभिन्न प्रकार के जान पड़ते हैं) हमें प्रवृत्त करती है।

इस प्रकार मुख्यतः चार योग माने जाते हैं— ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग। मनुष्य के संस्कार एवं कर्मगत अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उसके साधना मार्गों में भी बाह्यतः विभेद ही है। ये विभेद व्यक्ति-व्यक्ति की मानसिक विभिन्नता के कारण ही हैं। योगों की इन बाह्य विभिन्नताओं के आधार पर आध्यात्मिक अनुभवों की भी विभिन्नता पाई जाती है, परंतु इस बात पर ध्यान देना अनिवार्य है कि योग की वास्तविक प्रगति सर्वांगीण प्रगति ही है। किसी एक योग विशेष में उन्नति होने का अर्थ है—योगों में समान रूप से उन्नति को प्राप्त करना। अतः यद्यपि बाह्य अनुभवों की अभिव्यक्ति में विभिन्नताएँ रहती हैं। यहाँ पर उन्हीं अनुभवों का विशेष वर्णन किया जा रहा है, जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनिवार्य है। मनुष्य चाहे जिस योग का अवलंबी हो उसमें यदि इन सामान्य लक्षणों तथा अनुभवों का अभाव हो तो निश्चय जानिए कि वह आध्यात्मिक मार्ग से अवगत नहीं है।

मुदिता—आध्यात्मिक साधकों में साधना के साथ-साथ मुदिता भी उत्तरोत्तर बढ़नी चाहिए। यह स्वस्थ मानस तथा शुद्ध हृदय का परिचायक है। यह चित्त का प्रसाद है अथवा मन की शांतिबोधक। जब तक हृदय शुद्ध नहीं होता, मन के विकार क्षीण नहीं होते, विक्षिप्तता दूर नहीं होती, तब तक मनुष्य मुदिता की प्राप्ति नहीं कर सकता। मुदिता एक निश्चित लक्षण है, जिससे हम जान सकते हैं कि साधक अपनी साधना में सफलता को प्राप्त कर रहा है। बहुत लोग साधु रूप में दृष्टिगत होने के लिए बहुत ही उदात्तपूर्ण मुखाकृति बनाए देखते हैं। यह उनका भ्रम है। जो मन सुख की रश्मियों से ओत-प्रोत है, उसी में सत्य का संचार है। सात्त्विक मन ही योग की गंभीर साधनाओं में सफलतापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है। अतः सुंदर सदगुणों का उपार्जन करना आत्मा का आनंद है, सदा आनंद में ही संस्थित रहिए।

संतोष—शांति, सत्संग, संतोष तथा सद्विचार मोक्ष के चार द्वारपाल हैं। संतोष से बढ़कर और कोई लाभ नहीं। संतोष से परम शांति तथा सुख की प्राप्ति होती है, संतोष सात्विक गुण है। इससे मनुष्य आलसी नहीं बनता, वरन और भी सक्रिय बनता है। संतोष से वैराग्य, विवेक तथा विचार की अभिवृद्धि होती है। जिसमें संतोष है, उसी में ईश्वरीय ज्योति का अवतरण होता है। संतोष ही सर्वोत्तम धन है। आत्मा स्वयं तृप्ति है। संतोषी मनुष्य के आगे सारी त्रुटियाँ डोलने लगती हैं। वह महापुरुषों तथा तपस्वियों द्वारा भी पूजित होता है।

वैराग्य—राग ही बंधन को घनीभूत करता है। वैराग्य से ही विमुक्ति होती है। साधक में जब सत्य का समावेश होता है, तब उसमें सारे विषय पदार्थों के प्रति स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है। वैराग्य की दिनानुदिन अभिवृद्धि होती है। यह इसका स्पष्ट परिचायक है कि साधक आध्यात्मिकता की ओर बढ़ता जा रहा है। यदि वैराग्य की स्थिति का अनुभव मनुष्य में उत्पन्न नहीं हुआ, तो यह रंचमात्र भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर सकता। वैराग्य महती शक्ति है, जिससे साधक सतत ध्यान के लिए प्रवृत्त होता है और अंततः आत्मसाक्षात्कार करता है। विवेकयुक्त वैराग्य ही लाभदायक है, अन्यथा तो वैराग्य अस्थायी है।

अभय—यह दैवी संपदा है। भय तो अविद्या जात है। शरीर के साथ तादात्म्यता रहने से ही मनुष्य भयभीत होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में आंतरिक शांति, संतोष तथा वैराग्य की अभिवृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों उसमें भय का तिरोधान होता है। अभय की पूर्णावस्था जीवन्मुक्तों में ही पाई जाती है।

समाधान—मन में पूर्ण शांति रहती है। विक्षेप नहीं होता। योगी का मन सदा लक्ष्य की ओर लगा रहता है। समाधान प्राप्त साधक ही सतत एवं अनवरत ध्यान का अभ्यास कर सकता है। उसमें विचार करने की प्रबल क्षमता होती है।

साधना में सफलता के साथ-साथ सारे सदगुण मनुष्य में आने लगते हैं। शांति, पूर्णता, एकाग्रता, निश्चलता, समत्व, धृति, श्रद्धा इत्यादि सारे गुण उसमें अपना आवास बनाते हैं। चमत्कारों की क्षमता के द्वारा मनुष्य योगी नहीं बनता, वरन इन सदगुणों की अभिवृद्धि से योगी बनता है। जो मनुष्य एक भी सदगुण से प्रतिष्ठित है, उसके पास अन्य सदगुण दौड़कर चले आते हैं।

आत्मकल्याण और मानसिक शक्तियाँ

मनुष्य को जो लाभ योग से प्राप्त होता है, उसका मूल आधार मानसिक शक्तियों का विकास और नियंत्रण ही होता है। अतएव जो मनुष्य योग को बहुत

बड़ी चीज समझकर उससे घबराते हों, उनके लिए मानसिक शक्तियों के विकास पर ध्यान देना ही सर्वोत्तम है। मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ बिखरी हुई रहती हैं, अतएव उनका साक्षात्कार करना कठिन होता है। इसके परिणामस्वरूप उसका मन अनेक विषयों में फँस जाता है। जब मन बाह्य विषयों में एक बार फँस जाता है, तो मनुष्य उनसे मुक्त होने की चेष्टा जितनी ही करता है, मन और भी फँसता जाता है। विषयों का अधिक चिंतन करने तथा मानसिक अंतर्द्वंद्व के कारण उसकी सारी शक्ति का हास हो जाता है और तब मनुष्य अशांत रूप हो जाता है।

हमारी आध्यात्मिक शक्तियों का विकास अपने आप को बाह्य विषयों से मुक्त करके अपने आप में ही केंद्रित करने से होता है। निर्मल मन ही शक्तिशाली होता है। बाह्य विषयों में फँसा मन शक्तिशाली कभी नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति का मन जितना ही उद्विग्न होता है, वह उतना ही शक्तिहीन होता है। जो व्यक्ति अपने मन को वश में किए हो, वही आत्मा की शक्ति का साक्षात्कार कर सकता है। आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए पहली आवश्यकता अपनी इंद्रियों को वश में करने की है। जहाँ-जहाँ इंद्रियाँ जाएँ अथवा आकर्षित हों, वहाँ-वहाँ से मन को रोकना चाहिए। इसके लिए मनुष्य को सदा जागरूक होकर रहना पड़ेगा। विद्वान से-विद्वान व्यक्ति का मन इंद्रियों के द्वारा चलित हो जाता है। इंद्रियों के विषय सामने रहने पर अपने मन को रोकना बड़ा पुरुषार्थ है। पर इस प्रकार का पुरुषार्थ अभ्यास द्वारा सिद्ध हो जाता है।

जिस प्रकार इंद्रियों के विषयों को रोकना आवश्यक है, उसी तरह मन को प्रबल संवेगों से रोकना आवश्यक है। प्रत्येक प्रकार का मानसिक विकार मन की शक्ति का विनाश करता है। यदि हम अपनी शक्ति का संचय करना चाहते हैं तो मानसिक विकारों से मुक्त होना अत्यंत आवश्यक है। शांत मन में ही शक्ति का उदय होता है।

जब मन शांत हो जाय तो मनुष्य को उसके स्वरूप के बारे में चिंतन करने में लगाना चाहिए। शांत अवस्था में जैसा मनुष्य अपने विषय में विचार करता है वह वैसा ही अपने आप को पाता है। किसी भी प्रकार का निश्चय जब किसी प्रकार के संशय से दूषित नहीं होता तो फलित होता है। कितने ही लोग किसी विशेष प्रकार की शक्ति की प्राप्ति के लिए मंत्र जप अथवा यज्ञ आदि करते हैं। ये सब क्रियाएँ अपने निश्चय को दृढ़ करने के लिए आवश्यक हैं। निश्चय की दृढ़ता ही सफलता की कुंजी है।

मानसिक शक्ति के विकास के लिए अपने आप को सदैव परोपकार में लगाए रहना आवश्यक है। स्वार्थ के कार्यों में लगे हुए व्यक्ति की शक्ति का ह्रास, चिंता, भय, संशय आदि मनोवृत्तियों के कारण हो जाता है। परोपकार की भावना इन मनोवृत्तियाँ का विनाश करती है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने स्वार्थ से मुक्त रहता है, उतना ही अधिक उसमें संकल्प की सफलता लाने की शक्ति का उदय होता है। अपने मन को परोपकार में लगाना स्वयं के वृहत रूप को पहिचानना है। इस वृहत रूप में सभी संकल्पों को सिद्ध करने की शक्ति है। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के विषय में सोचना ही मानसिक पतन है। मानसिक शक्तियों का विकास प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने से भी होता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक किसी सिद्धांत के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करता है। वह उतना ही अधिक अपने मन को दृढ़ बनाता है। मानसिक दृढ़ता आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए परम आवश्यक है। जो व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थितियों से डर जाता है, उसे कहीं चैन नहीं मिलता। बहुत सी चिंताएँ कल्पित होती हैं। इनकी भयानकता मन की दुर्बलता के कारण बढ़ जाती है। डरपोक को छाया भूत के रूप में दिखाई देती है। यदि ऐसा मनुष्य साहस कर उस छाया के पास जाय तो भूत का डर मिट जाता है।

अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करने के लिए सच्चा व्यवहार व विचार रखना परम आवश्यक है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सांसारिक व्यवहारों में कुशल होता है, वह उतना ही आध्यात्मिक ज्ञान के लिए अनुपयुक्त होता है। ऐसे व्यक्ति का मन सदा संशययुक्त होता है। वह न किसी दूसरे व्यक्ति की बातों पर विश्वास करता है और न स्वयं पर। यदि ऐसे व्यक्ति के मन में कोई भला विचार आ जाए तो उसके फलित होने में उसे विश्वास नहीं होता, संशययुक्त मन रहने के कारण ऐसा व्यक्ति अपने सभी मित्रों को खो देता है। उसे संसार शत्रुओं से भरा दीख पड़ता है। जैसे वह दूसरे लोगों को धोखा देता है, वैसे ही वह जानता है कि दूसरे लोग भी उसे धोखा देंगे। वह कुचिंतन में ही अपना समय व्यतीत करता है और वह दुःख में डूब जाता है।

मानसिक शक्तियों के विकास के लिए भोले स्वभाव का होना ही श्रेयकर है। अंगरेजी में कहावत है कि शैतान गधा होता है। यह कहावत चतुर लोगों की मूर्खता को प्रदर्शित करती है। जो मनुष्य बाहर-भीतर एक रूप रहता है, वास्तव

में वही अपने स्वरूप को पहिचानता है। यदि मनुष्य अपने विचारों और व्यवहार में सत्यता ले आवे तो उसका आचार अपने आप ही उच्चकोटि का हो जावे। जो व्यक्ति अपने किसी प्रकार के दोष को छिपाने की चेष्टा नहीं करता, उसके चरित्र में कोई दोष भी नहीं रहता। पुराने पापों के परिणाम भी सचाई की मनोवृत्ति के उदय होने पर नष्ट हो जाते हैं। ढका हुआ पाप लगता है, खुला पाप मनुष्य को नहीं लगता। जो स्वयं के प्रति जितना अधिक सोचता है, वह उतना ही अधिक अपने आप को पुण्यात्मा बनाता है। ऐसा ही व्यक्ति दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों को प्राप्त करता है।

आत्मज्ञान ही सबसे बड़ी संपदा है

इस प्रकार जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करके आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते हैं, वे केवल स्वयं ही सुखी और सफल मनोरथ नहीं होते वरन वे संसार में एक ऐसी धारा प्रवाहित करते हैं जो अधिक मनुष्यों के लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है।

हमारे जीवन में सबसे सुखद और मूल्यवान वही क्षण है, जब हम भौतिक जगत के माया जाल से अपने आप को तटस्थ करके आत्मानुभूति में पूर्णरूप से स्थित हो जाते हैं। इन क्षणों को प्राप्त करने का सौभाग्य तभी प्राप्त होता है, जब हम दिव्य सौंदर्य के सम्मुख होते हैं, अन्यथा नहीं। भौतिक जगत की संपत्ति इनको नहीं खरीद सकती और न संसार की ऊँची से ऊँची अवस्था, अधिकार अथवा शक्ति ही इनको प्राप्त कराने में समर्थ है। क्योंकि ये वही क्षण हैं, जब आत्मा शिशु-सुलभ सरलता से अपने प्रियतम भगवान की अनुपम सुंदरता का पूजन करती है।

मनुष्य का सुंदरतम अर्थात् सर्वोत्तम सुखमय क्षण ही उसका सबसे अधिक मूल्यवान समय होता है। मानव अनुभूति की पराकाष्ठा अपने भाइयों पर शासन करने की अथवा संसार की किसी भी इच्छित मूल्यवान निधि को खरीदने की शक्ति में नहीं है। वास्तविक संपत्ति तो आत्मा की अनुभूति से प्राप्त होती है। सुख की व्यावहारिक मुद्रा अर्थात् चलतू सिक्का 'प्रेम' है।

सबसे अधिक धनी वही है, जो सबसे अधिक देता है। ऐसा देना सांसारिक धन के रूप में कदापि नहीं हो सकता। रुपया-आना, पाई केवल प्रतीक मात्र हैं, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। कभी तो ये उन बेड़ियों के प्रतीक बन जाते हैं, जो हमें संसार में बाँधती हैं और कभी उस प्रेम के जो हमें जड़वाद से मुक्त

करता है, किंतु जीवन के सच्चे संपन्न अर्थात् सुखद क्षणों में तो अधिकतर इनका प्रवेश ही नहीं होता है।

जिस संसार में हम चलते, फिरते और बसते हैं, उसको यथार्थ रूप में समझने की चेष्टा अवश्य करनी चाहिए। साधारण मनुष्य की दृष्टि केवल सड़ने, गलने और नष्ट होने वाली वस्तुओं पर निर्णय दे सकती है। परंतु इस ऊपरी स्थूलता के पीछे बहुमूल्य आध्यात्मिक वस्तुओं का एक अनादि सागर है, आलौकिक संपत्ति की एक बाढ़ है, जिसके संबंध में हम प्रायः अनभिज्ञ हैं। तथापि यह आध्यात्मिक संपत्ति सबके लिए समान रूप से प्राप्य है। इसके लिए धनी, दरिद्र की उपेक्षा नहीं। इस संपत्ति पर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और वास्तव में इसी की प्राप्ति के लिए तो हमारा इस संसार में जन्म हुआ है। यदि हम इस आध्यात्मिक संपत्ति के जो अलौकिक सुंदरता की खान है, अनुसंधान में तत्पर नहीं होते तो हमारा जीवन नीरस और निरर्थक बन जाता है।

संसार में आत्मकल्याण के सभी इच्छुक होते हैं, पर वास्तविक आत्मकल्याण तभी संभव है, जब मनुष्य आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील हो। बिना आत्मज्ञान के जो आत्मकल्याण चाहते हैं, वे बिना नींव मकान खड़ा करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे लोग प्रायः विपरीत मार्गों को अंगीकार करके आत्मकल्याण के बजाय आत्मिक पतन की ओर अग्रसर होने लगते हैं। इसलिए संसार में उच्च स्थिति की अभिलाषा रखने वाले को अवश्य ही आत्मा को जानने और उसी के आदेश-पालन का सत्-संकल्प करना चाहिए।

